संस्कार उपन्यास में अभिव्यक्त मनुष्य के अंतर्द्वंद्व

- **विवेकानंद**

शोध सार:-

'संस्कार' 1965 में कन्नड़ में प्रकाशित हुआ। 'संस्कार' उपन्यास कन्नड़ साहित्य में सबसे प्रसिद्ध और प्रासंगिक रचना है। इसके लेखक यू. आर. आनंतमूर्ती हैं। जो 'धर्म' और 'संस्कार' जैसे पेंचीदे सवाल को लेकर इससे ज्यादा दिलचस्प उपन्यास भारतीय-भाषाओं में उपलब्ध नहीं है। उनके पाठकों में प्रत्येक वर्ग के लोग शामिल हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यास में होता यह है कि जहां भी 'धर्म' और 'राजनीति' का नाम आता है अक्सर रचनाकार अपनी तरफ से भाषण देने लगता है। ऐसे में कथा पीछे छूट जाती है और रह जाता है केवल शुष्क नीरस भाषण। इस लिहाज से 'संस्कार' एक नयी लीक बनाता हुआ उपन्यास है। इसमें 'धर्म' और 'व्यक्ति' के संबंधों को लेकर लिखा गया है। वह इन दोनों के बीच घटित होने वाली घटना के माध्यम से ही लिखा गया है। इसलिए पूरा उपन्यास द्वन्द्व से भरा हुआ है। पाठक उपन्यास पढ़कर तय नहीं कर पाता है कि इस उपन्यास का वास्तविक नायक कौन है। मृत नारणप्पा या प्राणेशाचार्य। इसी तरह से इस उपन्यास की मूल समस्या क्या है? नारणप्पा का संस्कार या प्राणेशाचार्य का जीवन के प्रति उत्पन्न नया दृष्टिकोण। परंपरा एवं आधुनकिता का द्वन्द्व और भारतीय समाज में ब्रह्मणवाद, अंधविश्वास, रूढ़िवाद गुमराह धर्म और संस्कारों के नाम उम्मीदें धुंधली नजर आती हैं। स्वाभिमान एवं धर्म के नाम पर हिन्दू धर्म में उत्पीड़न का प्रश्न आज भी वही खड़ा नजर आता हैं।

बीज शब्द:- संस्कार, हिन्दू, ब्रम्हणवाद, धर्म, परम्परा, अंधविश्वास, राजनीति, रूढ़िवाद, स्वाभिमान, उत्पीड़न, द्वन्द्व, जीवन, भारतीय, भाषाओं, आधुनिकता, प्रासंगिक, कन्नड़, शुष्क, नीरस।

''संस्कार' उपन्यास में 'धर्म' और 'संस्कार' दो कथानक समानांतर आपस में अंतर्द्वंद्व को लेकर चलते हैं। जिनके माध्यम से भारतवर्ष-विशेषकर कन्नड़ समाज में मानवीय मूल्यों तथा संवेदना पर ही प्रकाश डालती हैं। धार्मिक-जीवन एवं उनके आपसी संघर्षों और समस्याओं से सामाजिक, आर्थिक, विषमता आदि का विस्तृत एवं गहरा चित्रण किया है। यहाँ यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि मृत नारणप्पा से ज्यादा जरूरी मुद्दा प्राणेशाचार्य के नए जीवन की शुरुआत का है। एक धर्म-कर्म से लिपटे हुए व्यक्ति के जीवन से संबंधित यथार्थ ब्यौरों से भरी यह दास्तान प्राणेशाचार्य के माध्यम से मनुष्य की नियति और निर्णय क्षमता पर सवाल उठाती है। प्राणेशाचार्य ने बहुत सोच विचारकर ब्राह्मणधर्म का पालन आरंभ किया था। उसके लिए बाकायदा काशी जाकर वेद, वेदांतों का अध्ययन कर आये है। यहाँ तक कि जान बूझकर एक रुग्णा युवती से उन्होंने सिर्फ इसलिए विवाह किया है कि वह उनकी तपश्चर्या की कसौटी रहे। इस सब के बावजूद होनी को कुछ और ही मंजूर

था। नारणप्पा की मृत्यु से उपजी परिस्थितियाँ एक-एक करके प्राणेशाचार्य के विश्वास की नीव की ईटों को उखाड़ती जाती है। और अंततः प्राणेशाचार्य के समस्त उपार्जित 'संस्कारों' को नष्ट करके उन्हें एक साधारण इंसान बनाकर छोड़ जाती है। जहां वे अनिर्णय के अधर में लटके रहते है।

'संस्कार' अपने हिन्दी अर्थों में दो अर्थों में मुखरित होता है। पहला तो सीधा सादा नारणप्पा का अंतिम संस्कार से है। दूसरा है प्राणेशाचार्य का संस्कार जो उन्होंने अध्ययन, मनन, तथा शास्त्रार्थ से उपार्जित किया है। प्राणेशाचार्य का यह संस्कार आंतरिक तौर पर हिन्दू धर्म के ब्राह्मण संस्कारों से संचालित होता है। कोई भी समस्या उपस्थित होने पर वे धर्मग्रंथों की पोटली उतारकर उसमें समाधान ढूँढ़तें है। यहाँ तक कि साधारण व्यवहार तक में वे अत्यंत सजग रहते हैं। उनका पूरा जीवन ही धर्मग्रंथों द्वारा बताये अनुसार चल रहा है। ऐसे में जब नारणप्पा के संस्कार की समस्या उनके सम्मुख आती है तो वे प्रथम दृष्टया ही अग्रहार के ब्राह्मणों को आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि "आप लोग अब जाइए। मैं जरा मनुस्मृति आदि शास्त्रों में इस विषय को देखूँगा। शायद कहीं इस संकटपूर्ण स्थिति का समाधान मिले.. ।"[1] प्राणेशाचार्य धर्मग्रंथों और शास्त्रों में कोई समाधान न पाकर अत्यन्त आश्चर्यचकित तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। दरअसल इस समस्या की जड़ में प्राणेशाचार्य का यह मानना था कि नारणप्पा .. "द्वारा ब्राह्मणत्व त्याग देने पर भी ब्राह्मणत्व ने उसे नहीं त्यागा। उसका बहिष्कार नहीं किया गया। शास्त्रों के अनुसार चूंकि वह बिना बहिष्कृत हुए मरा है। इसलिए वह ब्राह्मण रहकर ही मरा है। देखा जाए तो जो ब्राह्मण नहीं हैं। उन्हीं को उसके शव को स्पर्श करने का अधिकार नहीं हैं उनके लिए उसके शव को स्पर्श करने को छोड़ देंगे तो हम अपने ब्राह्मणत्व की ही प्रवर्चना करेंगे।"[2]

प्राणेशाचार्य अपने इस विश्वास पर अत्यंत दृढ़ता पूर्वक अडिग रहते हैं। इसी से समस्या बढ़ जाती है। दुर्वासापुर अग्रहार में प्राणेशाचार्य को छोड़कर नारणप्पा का वास्तव में कोई हितचिंतक नहीं था। उसके जीवित रहते प्राणेशाचार्य ने अनेकों बार उसे समझा-बुझा कर अपने सनातन मार्ग पर लौटना चाहा। इस दौरान उन्हें नारणप्पा से अपमानित भी होना पड़ा पर उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। या कहिए कि निरंतर क्षमा करते रहे। इसके पीछे का रहस्य यह था कि प्राणेशाचार्य ने नारणप्पा की मरणासन्न बूढ़ी माँ को यह वचन दिया था कि " तुम्हरे पुत्र की रक्षा करूंगा। उसे सन्मार्ग पर लाऊँगा"[3] और अपने इसी वादे के तहत उन्होंने नारणप्पा को सदैव ही अग्रहार के ब्राह्मणों के कोप से रक्षा करते रहे। अंतत उसके मृत्यु के प्राप्त होने पर प्राणेशाचार्य की आंतरिक अभिलाषा है कि उसे ब्राह्मणोचित गति मिले । किन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा हैं अग्रहार के लालची ब्राह्मण और धर्मशास्त्रों की मर्यादा तथा भाग्य की रक्षा का उत्तरदायित्व जो प्राणेशाचार्य के कंधों पर है। प्राणेशाचार्य अत्यंत धर्म भीरु ब्राह्मण हैं। उन्होंने तपश्चर्या और शास्त्र अध्ययन में अपना पूरा जीवन लगा दिया। एक समय था जब नारणप्पा उनका प्रिय श्रोता था। प्रतिदिन संध्यावन्दन तथा भोजनोपरांत प्राणेशाचार्य अपने घर की चौकी पर बैठकर पुराणकथा कहते थे। पुराणकथाओं में से शृंगार के प्रसंग और नारी सौन्दर्य के

प्रसंग को वे चटखरा ले-लेकर विधिवत उसका सांगोपांग निरूपण करते थे। उनके श्रोताओं सिरमुंडी विधवाएं, किशोर होते लड़के तथा अन्य श्रोता समुदाय होता था। उनके द्वारा वर्णित शारीरिक सौन्दर्य किशोर कुछ ज्यादा ही कथा सुनने में दिलचस्पी लेते थे। कथा समाप्ति पर वे उस सौन्दर्य की तलाश में भटका करते थे। ऐसे ही सौन्दर्य की तलास में दो पुत्रक पथभ्रष्ट हुए थे। एक तो नारणप्पा स्वंय था। दूसरा लक्ष्मणाचार्य का दामाद श्रीपति था। जब प्राणेशाचार्य नारणप्पा को समझाने गये तब नारणप्पा ने अपने भ्रष्ट होने का कारण उनकी पुराण कथा को बताया। इतना ही नहीं उसने उनसे प्रश्न किया कि "अब आप सोचकर बताइये कि क्या उस आचार्य ने उस गाँव के ब्राह्मणों के शील को बरबाद नहीं किया था? इसलिए बड़ों ने कहा है कि वेद-पुराण पढ़ो किन्तु उनका अर्थ समझने का प्रयत्न मत करो। आप काशी होकर आये हैं न आप ही कहिए, ब्राह्मणत्व का नाश किसके द्वारा हुआ?"[4] नारणप्पा का यह प्रश्न प्राणेशाचार्य की दुखती रग के छूने में कामयाब रहा था। दरअसल काशी में अध्ययन करते समय प्राणेशाचार्य का एक घनिष्ठ मित्र हुआ करता था महाबल। महाबल अध्ययन तथा तपश्चर्या में प्राणेशाचार्य से बढ़ चढ़कर था। एक तरह से प्राणेशाचार्य का वह आदर्श था। प्राणेशाचार्य मन ही मन उससे प्रतिस्पर्धा भी करते थे। और कहते थे "एक उसी के प्रति मेरे मन में जहां अथाह स्नेह था, वहीं अथाह ईष्या भी थी। उसकी तुलना में मैं रूप और बुद्धि दोनों में कुछ कम ही पड़ता था।"[5] वही महाबल बाद में वेश्यागामी हो गया। पता नहीं क्यों प्राणेशाचार्य को महाबल का अक्स नारणप्पा में मिलता था। वे सोचा करते थे "इस पतित महाबल के रास्ते पर मुझे कभी नहीं चलना हैं, मैं सदैव इससे विपरीत दिशा का राही रहूँगा। मैं जब कभी भी नारणप्पा को देखता तो मुझे महाबल याद आ जाया करता"[6] इस प्रकार नारणप्पा को देखकर महाबल याद आता तथा महाबल से उनके पराजित होने का दर्द उभर आता था। इस प्रकार से तमाम प्रसंग आपस में जुड़कर प्राणेशाचार्य को पराजित महसूस कराते थे। प्राणेशाचार्य हार मानने को तैयार नहीं थे। इसलिए जब नारणप्पा ने ब्राह्मणत्व के नाश का कारण पुराण कथा को सिद्ध कर दिया तो प्राणेशाचार्य को हार्दिक कष्ट हुआ तथा उन्होंने सोचा कि हो न हो इसकी बात सत्य ही हो। इस प्रकार सोचकर वे स्वयं को अपराधी महसूस करने लगते।

नारणप्पा ने प्राणेशाचार्य को चुनौती देते हुए कहा था " मैं आप ब्राह्मणों को यदि कोई सलाह दे सकता हूँ , आचार्यजी, तो पहले आप लोग तन और मन से रुग्णा पत्नियों को नदी में धकेल दीजिए। अपने पुराणों के ऋषियों की तरह जीना सीखिए मछली की स्वादिष्ट तरी बनाने वाली किसी मत्स्यगंधा - सी मछुआरिन को अपनाइये और उसकी बाहों में लिपटकर सोइये। आंखे खुलने पर यदि आपको परमात्मा न दिखाई दे तो मेरा नाम नारणप्पा नहीं।"[7]

नारणप्पा प्राणेशाचार्य के ब्राह्मणपन को चुनौती देता था। उसने कभी उनके साथ गाली गलौज नहीं कि जबकि बाकी ब्राह्मणों के साथ वह ऐसा कर चुका था। वह प्राणेशाचार्य से द्वेष नहीं रखता था। वह केवल उनसे अपने अनुभव से प्राप्त सत्य को ही कहता था। नारणप्पा केवल प्राणेशाचार्य को ही

ब्राह्मण मानता भी था और कहता था- "देखें आखिर कौन जीतता है मैं या आप ? मैं ब्राह्मणत्व का नाश करके ही हटूँगा। लेकिन मुझे दुख इस बात का है कि विनाश के लिए इस अग्रहार में आपके अतिरिक्त कोई दूसरा ब्राह्मण ही नहीं रहा।"[8]

नारणप्पा प्राणेशाचार्य के दोगले जीवन पर भी प्रहार करता है -"आप रस और कामाख्यानों से पूर्ण पुराणों का पाठ करते हैं, किन्तु उपदेश देतें हैं नीरस जीवन जीने का। लेकिन मेरी बातों का एक ही अर्थ होता है।"[9] वस्तुतः दूर्वासापुर अग्रहार में दो ही ईमानदार आदमी थे एक- नारणप्पा और दूसरा प्राणेशाचार्य। बाकी सभी तो, झूठे मक्कार लोभी, कामी, पापी लालची यानी जितनी भी बुराईयाँ होती है सबसे परिपूर्ण। और इस सबके बावजूद उच्च माध्य ब्राह्मण होने का दंभ सर्वोच्च स्तर पर रहता था। नारणप्पा की स्पष्टवक्तृता से प्राणेशाचार्य पर्याप्त प्रभावित थे। आज जब वह मर चुका है और उसके अंतिम संस्कार का उपाय उनसे पूछा जा रहा है तो वे ईमानदारी से उसका हल ढूंढ रहे हैं। बाकी लोगों की तरह किसी लालच में पड़कर नहीं।

आरंभ में ही अग्रहार के सारे ब्राह्मण नारणप्पा का संस्कार करने से इनकार करते हैं किन्तु जैसे ही चंद्री अपने गहने देती है वैसे ही संस्कार करने वालों की संख्या बढ़ने लगती है। यहाँ तक कि कई लोग उसके करीबी होने का दावा करते हुए पहले अपना हक जमाते है। इस स्थिति को उपन्यास में इतनी सूक्ष्मता से उपन्यासकार ने उभारा है कि एकाएक पूरा अग्रहार ही विद्रूप नजर आने लगता है। और लगता है कि यहाँ पर प्लेग कि बजाए बिजली गिरनी चाहिए ताकि सारे लोभी, पापी और कुकर्मी एक ही साथ समाप्त हो जाएं ।

प्राणेशाचार्य पोथियों को पलटने तथा पूर्व प्रसंगों को याद करने के क्रम में अपनी दिनचर्या का यत्रवत् पालन करने में लगे रहते हैं- "बीस वर्षों से लगातार एक ढर्रे में बंधा कार्यकलाप।" उन्हें याद आता है कि अपना धर्म अपने पास ही रहने दीजिए। "एक बार ही तो जिंदगी मिलती है। मैं चार्वाक का वंशज हूँ ऋण कृत्वा घृतं पिवेत"[10] ऐसा ही तो नारणप्पा ने कहा था। वह तो संसार का सारा कर्म - कुकर्म करके मरा है। अब प्राणेशाचार्य को हनुमान जी की याद आती है। नहा - धोकर के आसन लगाकर हनुमान जी के सामने बैठते हैं कि कही से कोई इशारा मिल जाए तो सारा काम बन जाए। पर हनुमान कुछ नहीं कहते -करते हैं। "किन्तु हनुमान जी किसी बात पर भी न पसीजे, कुछ भी जैसे न सुना हाथ में उठाये पवर्त की तरफ मुँह किये खड़े रहे।"[11]

महाकवि निराला के एकपात्र बिल्लेसुर बकरिहा इसी तरह हनुमान जी के भरोसे अपनी बकरियाँ छोड़कर सो जाया करते थे। एक दिन जब एक बकरी गयाब हो गई और बिल्लेसुर के प्रार्थना के बावजूद हनुमान जी ने बकरी नहीं लौटाई तब बिल्लेसुर ने कहा 'लिए थूथून से महूँ खड़े रहे और बकरी गयाब करा दी' ऐसा कहकर एक लाठी जो मारी तो हनुमान जी का सिर उखड़कर गेंद की तरह

लुढ़कने लगा। हालांकि प्राणेशाचार्य ने ऐसा कुछ नहीं किया किन्तु उनका अचल विश्वास हनुमान जी की तरफ से हटने लगा।

रात्री में अंतः निराश होकर जब मंदिर से वापस चले तो रास्ते में चंद्री भी साथ हो ली मार्ग में परिस्थितियों कुछ ऐसी करवट लीं कि प्राणेशाचार्य ने चंद्री के साथ सहवास किया। यही से प्राणेशाचार्य के अंतर में द्वन्द्व का जन्म हो जाता है। चंद्री के साथ घटित इस घटना को प्राणेशाचार्य अपने विवेक, बुद्धि तथा तर्क के अनुसार विश्लेषित करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इसमें उनका कोई दोष नहीं है। क्योंकि उन्होंने ऐसा जानबूझकर नहीं किया है न तो ऐसा घटित होने की उन्होंने कामना ही की थी। ऐसे में उनकी जिम्मेदारी सिर्फ इतनी बनती है कि वे इस घटना को सत्य- सत्य बाकी लोगों के सामने रख दे । बाकी जो निर्णय उन्हें लेना होगा वे ले लेंगे। मगर होनी को तो कुछ और ही मंजूर था। रास्ते में चंद्री अलग होकर नारणप्पा के एक मुसलमान मित्र की सहायता से उसका संस्कार करके अपने घर कुंदापुर चली जाती है। यह बात प्राणेशाचार्य को पता नहीं हैं। इसी बीच प्राणेशाचार्य को जीवन में पहली बार अपनी पत्नी से विरक्ति होती है। इसी बीच प्लेग से वह भी गुजर जाती हैं। प्राणेशाचार्य चंद्री के साथ घटित घटना को ब्राह्मणों से छुपा ले जाते हैं। अपनी पत्नी का दाह संस्कार करके वे नदी से ही सीधे अज्ञात दिशा में बढ़ते चले जाते हैं।

प्राणेशाचार्य कई बार यह निर्णय करते हैं कि लोगों से अपने चंद्री के साथ हुए संबंधों को बता दे पर ऐसा होता नहीं है। उपन्यासकार की कुशलता देखिए कि एक ईमानदार और सत्यवादी ब्राह्मण सत्य को कहने की बजाए टालने लगता है। और अंतत भाग खड़ा होता हैं। प्राणेशाचार्य को चंद्री के साथ संबंधों की स्वीकारोक्ति से उपजने वाली कठनाइयों से ज्यादा भय नारणप्पा से पराजित होने का भय हैं। वे किसी कीमत पर नारणप्पा से हार स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

यह भी एक विडम्बना ही कहिए कि प्राणेशाचार्य जितना ही नारणप्पा से भागते हैं उतना ही वह भारी पड़ता जाता है। उसकी एक -एक बात सही सिद्ध होती है। इनके मन में गहरे तक यह बात रहती है कि नारणप्पा के माध्यम से जीत महाबल की होगी। और इन्होंने शपथ लिया था कि महाबल के विपरीत जाते हुए उसे परास्त करना है। जब ऐसा नहीं होता है तो प्राणेशाचार्य अपने बचाव में अपनी पहचान छुपाकर वह देश ही छोड़ देना चाहते हैं। वे उस परिचित क्षेत्र से बहुत दुर जाना चाहते है। एक समस्या है जो उन्हें संशय में डाली रहती है। उन्हें कदम - कदम पर चंद्री से एक रात्रि को प्राप्त सुख का स्मरण रह- रह कर आता है। और उन्हें वह लगने लगता है कि जब तक वे दोबारा चंद्री से पुनःसहवास नहीं कर लेंगे यह दुविधा, यह संशय मिटने वाला नहीं हैं। ऐसा सोचने पर पहली बार उनके अंदर "सामान्य मनुष्यों की तरह पहली बार उनमें झूठ बोलने की, चीजें छिपाने की और अपने ही हित की रक्षा की बात सोचने की इच्छा जगी।"[12] इसके पहले प्राणेशाचार्य ने सब कुछ ईश्वर को अर्पित कर रखा था। आज उन्हें उस ईश्वर से अपना हिस्सा अलगाने की प्रबल इच्छा हुई " पहली

बार उनकी आँखों में सुंदर और असुंदर का भेद दिखाई पड़ने लगा। आज तक उन्होंने काव्यों में वर्णित सौन्दर्य को स्वयं अपने जीवन में पाने की इच्छा नहीं की थी। दुनिया की सारी सुगंध केवल प्रभु की प्रतिमा की केशराशि को सजाने वाले फूलों में होती है। स्त्रियों का संपूर्ण सौन्दर्य नारायण की दासी और उनकी सेवा में निरत लक्ष्मी में ही केंद्रित है। सारा रति सुख कृष्ण के लिए ही है, जबकि वे गंगा स्नान कर रही स्त्रियों के वस्त्र चुरा ले गये और पानी में उन्हें नंगा छोड़ दिया। आज इन सबमें से एक अंश अपने लिए भी प्राप्त करने की इच्छा उनमें जगी।"[13] अब वे ईश्वर की बजाए अपने बारे में सोचने लगे। पहले बात- बात पर वे मंत्र दोहराते थे। " मंत्र -जप नाम स्मरण की झूठी सांत्वनाओं को दूर कर दो; एकाकी अपने पैरों पर खड़े रहों!"[14] यानी उपन्यासकार उन्हें एक आश्रयी जीव से एक स्वतंत्र चेता मनुष्य में निर्मित करने लगता है। प्राणेशाचार्य अब सब कुछ अपनी बिना पर तय करते हैं। प्राणेशाचार्य ने इस स्वतंत्र चेतना की अवस्था में नया निर्णय लिया "एक बार ईश्वर से नाता तोड़ लेने के बाद पुराने सब ऋणों से- गुरु ऋण, पितृ-ऋण, देव ऋण -इन सबसे अपने को मुक्त मान लेना चाहिए तथा सब सामाजिक बंधन काटकर रहना चाहिए। इसीलिए यह निर्णय ठीक और उचित है कि जिधर पाव ले चलें चलते रहना चाहिए।"[15] साथ ही उन्होंने अपना ही निर्णय स्वंय को सुनाते हुए घोषणा कि "इस सारी समस्या को मुझे पूरी तरह समझ लेना चाहिए। भविष्य में मेरा व्यवहार विभिन्न होगा और अपने को रंचमात्र भी धोखा देने की गुंजाइस नहीं।"[16]

पुट्ट से मिलकर जब पद्ममावती से उनकी भेंट हुई तो पीछे के सारे संबंध उन्हें स्वार्थी लगने लगे। प्राणेशाचार्य ने स्वंय को ठगा हुआ महसूस किया। उन्होंने सोचा "भगवान मारुति ने मुझे चकमा दिया। मित्र महाबल ने मुझसे चतुराई की। नारणप्पा ने मुझसे बदला लिया। ब्राह्मण स्वर्ग के लालच से घिर गये। अंधकार में प्रतीक्षा करती चंद्री को जिस चीज की कमाना की थी उसे हासिल किया और विदा हो गयी।"[17]

यही वह मूल समस्या है जहां पर प्राणेशाचार्य को सब पर संशय हो जाता है। यहाँ तक कि स्वंय पर भी। उन्हें लगता है कि वे जीते जी प्रेत हो गये हैं। चंद्री से सहवास के समय भी ऐसा नहीं हुआ। अपनी हुए पत्नी से घृणा करते भी नहीं हुआ न तो ब्राह्मणों से सच छुपते हुए ही इस सीमा तक संशय हुआ। न ही पुट्ट के साथ काफी पीते हुए। हुआ कब जब पद्ममावती के सामने उन्हें चंद्री या पद्ममावती में एक चुनने का निर्णय लेना था। वे विचार करने लगे "हे परमात्मा, इस सारे भय, आतंक का मूल कारण क्या है? क्या किसी नये जन्म से पूर्व की यह प्रसव पीड़ा हैं? या यह भय उस प्रकार का है जो कि आज रात यदि मैं पद्ममावती के साथ जो जाऊँ तो लुप्त हो जाएगा? यदि मैं जाकर चंद्री के साथ रहने लगूँगा तो क्या यह निर्मूल हो जाएगा? मेरे निर्णय का कोई मूल्य भी है क्या? मेरे प्रारब्ध में कहीं ऐसा तो नहीं है कि मनुष्य के रूप में ही मैं प्रेत बनकर, सदैव संशय-असंशय के बीच डोलता रहूँ?"[18]

उपन्यासकार द्वारा प्राणेशाचार्य के उभारे गये अंतर्द्वंद्व का यह सर्वोच्च बिन्दु है। यहाँ आकर वह सोचते हैं कि 'मेरे निर्णय का कोई मूल्य भी है क्या'? यही वो बिन्दु है जहां लाकर उपन्यासकार पाठक को छोड़ देता है। प्राणेशाचार्य को तो खैर छोड़ता ही है।

'संस्कार' उपन्यास में उपन्यासकार ने एक ऐसे व्यक्ति के अंतर्द्वंद्व को फोकस में रखा है जो समाज के स्थापित सर्वोच्च मूल्यों का ग्रहणकर्ता है। सभ्यता से प्राप्त सभी ज्ञान-विज्ञान तथा तर्कों से भली भाँति परिचित है। शास्त्र, संहिता से खूब परिचित है। वह स्वभाव से श्रेष्ठ मनुष्य है। सत्यता और ईमानदारी उसका आचरण है।

ऐसा व्यक्ति जब संशय में पड़कर अंर्द्वन्द्व से गुजरता है तो क्या करता है? कैसे सोचते है, तथा इस प्रक्रिया में उसके मन की परत दर परत जो जानकारी मिलती है वह मनुष्य के मनोविज्ञान को सत्यापित करती जाती है। उसका हठ, उसकी उदारता, उसका तर्क और उसका भय यह सब मिलकर उसे यशोपेश में डाल देते हैं। जहाँ से वह एक व्यावहारिक निर्णय लेने में असफल हो जाता है। उसके अंतर्मन में लोगवा का कहीं रूपी सामाजिक दबाव भी उसके अंतर्द्वंद्व की तीब्रता को बढ़ाने का ही काम करता जाता है।

यहाँ उपन्यासकार ने यथार्थ ब्यौरों से भरी हुई इस प्रतीकात्मक कथा को इतना सार्थक अंत दिया है कि उपन्यास खत्म हो जाता है और पाठक की उलझन बढ़ जाती है। वह सोचने लगता है कि अगर वह प्राणेशाचार्य की जगह होता तो क्या निर्णय लेता। और ठीक यह वही बिन्दु है जहां उपन्यासकार की सफलता अपनी पूरी सार्थकता के साथ प्रकट हो जाती है। और पाठक शायद फिराक का वह शेर याद करते हुए उपन्यास बंद कर देता है - कि

जिंदगी भर जीके भी जीने का हुनर आया।

जिंदगी छोड़ दे पीछा मैं तुझसे बाज आया॥

[1]आनंतमूर्ति यू. आर. (अनुवादक चंद्रकांत कुसनूर), (2014), *संस्कार,* नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन. पृष्ठ सं-24
[2] वही, पृष्ठ सं-20
[3] वही, पृष्ठ सं-30
[4] वही, पृष्ठ सं-35
[5] वही, पृष्ठ सं-12
[6] वही, पृष्ठ सं-21
[7] वही, पृष्ठ सं-36
[8] वही, पृष्ठ सं-34
[9] वही, पृष्ठ सं-36
[10] वही, पृष्ठ सं-31
[11] वही, पृष्ठ सं-77

[12] वही, पृष्ठ सं-93
[13] वही, पृष्ठ सं-92
[14] वही, पृष्ठ सं-109
[15] वही, पृष्ठ सं-110
[16] वही, पृष्ठ सं-111
[17] वही, पृष्ठ सं-154
[18] वही, पृष्ठ सं-159

19 निर्मला जैन, (2008), साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन.

20 प्रेमचन्द, (2006), कुछ विचार, नई दिल्ली, लोक भारती प्रकाशन.

21 फ्रायड, (2007), मनोविश्लेषण, नई दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन.

विवेकानन्द
पी-एच.डी- शोधार्थी
(हिंदी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय त्रिपुरा)
vivekanandjnu@gmail.com, फोन 9621224500, 9013048887